मैपिंग सिटीज़नशिप इन इण्डिया
अनुपमा रॉय
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली
पृष्ठ : 218; मूल्य : 645 रुपये, 2010

भारत में नागरिकता : द्वंद्व और अंतर्विरोध

कमल नयन चौबे

नागरिकता का विचार आज की सर्वाधिक विवादास्पद अवधारणाओं में से एक है। किसी राज्य का लोकतांत्रिक स्वरूप इस बात से तय होता है कि उसने अपने नागरिकों को कितने और किस तरह के अधिकार दिये हैं ? देश के भीतर विभिन्न वर्गों के लिए औपचारिक सार्वभौम नागरिक अधिकारों के साथ ही नागरिकता के तात्त्विक अधिकारों की भी माँग की जाती रही है। दुनिया के कई देश अपने नागरिक समूहों को विभेदीकृत नागरिकता का अधिकार दे कर उन्हें उदारतावादी नागरिकता की रूपरेखा में समायोजित करने का प्रयास करते रहे हैं। तीसरी दुनिया में नागरिकता से जुड़े विवाद समान औपचारिक अधिकारों और विशेष पहचान के साथ-ही-साथ जीविका के लिए चलने वाले संघर्षों से गुँथे हुए हैं। जीविका या बेहतर ज़िंदगी की तलाश में एक देश से दूसरे देश में जाने वाले लोगों के लिए नागरिकता का मुद्दा काफ़ी अहम है। हालाँकि आम तौर पर इस बारे में ज़्यादा जागरूकता नहीं होती कि देशों के बीच खींची गयी रेखा के इस पार या उस पार होन में कितना बड़ा फ़र्क़ पड़ता है, पर यह ज़रूर है कि प्रशासन की निगरानी और कई तरह की मानसिक-शारीरिक यातना ने रोज़ी-रोटी की तलाश में दूसरे देशों में जाने वाले लोगों को नागरिकता के मुद्दे के बारे में काफ़ी जागरूक बना दिया है। भारत में बांग्लादेश से आये लोग इस तरह के नागरिक समूह के उदाहरण हैं।

अनुपमा रॉय की किताब *मैपिंग सिटीज़नशिप इन इण्डिया* क़ानूनी-संवैधानिक क्षेत्र में नागरिकता-विमर्श की विवेचना करते हुए इससे जुड़े द्वैधों को उजागर करती है। उन्होंने अपनी किताब में नागरिकता की अवधारणा के भीतर मौजूद विरोधाभास और इसके विस्तार की राजनीति को स्पष्ट करने का

प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने 'अवैध बाहरी या प्रवासी' की श्रेणी का प्रयोग किया है। वे यह मानती हैं कि इसकी मदद से नागरिकता तय करने वाली सीमाएँ स्पष्ट की जा सकती हैं। उन्होंने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस तरह इन प्रवासियों के विविध रूप नागरिकता में निहित द्वैध से जुड़े रहे हैं। भारत में नागरिकता के मुद्दे से जुड़ा विमर्श स्पष्ट करने के लिए रॉय ने तीन प्रमुख क़ानूनों/क़ानूनी बदलावों के गहरे और आलोचनात्मक विश्लेषण द्वारा नागरिकता-विमर्श स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन तीनों को भारत के नागरिकता-विमर्श के संदर्भ में मील के पत्थर की संज्ञा दी जा सकती है। पहला घटनाक्रम 1947 के भारत विभाजन और उसके बाद नागरिकता के बारे में किये गये प्रावधानों से संबंधित है। भारत विभाजन के बाद लाखों लोग पाकिस्तान से भारत आये। यह प्रक्रिया आज़ादी के बाद कई वर्षों तक चलती रही। शायद यही कारण था कि भारत सरकार ने स्वतंत्रता मिलने के आठ साल बाद पहला नागरिकता क़ानून पारित किया जिसे 1955 के *नागरिकता अधिनियम* के रूप में जाना गया। दूसरा पड़ाव इस अधिनियम में 1986 में हुए संशोधन से संबंधित है जो सत्तर के दशक के आख़िरी वर्षों की घटनाओं और अस्सी के दशक में असम की राजनीति में हुए गम्भीर उथल-पुथल के बाद हुआ था। अध्ययन का तीसरा पड़ाव इसी अधिनियम में 2003 में हुआ संशोधन है जिसमें कुछ चुनिंदा विदेशी देशों में रहने वाले भारतीय मूल के लोगों को वर्चुअल नागरिकता प्रदान की गयी।

रॉय ने लोकतांत्रिक नागरिकता के संदर्भ में क़ानूनी स्तर पर होने वाले बदलावों की व्याख्या के संदर्भ में वर्बनर और युवल डेविस के 'इनकम्पासमेंट' (आवेष्टन) और ' क्लोज़र' (या समापन) के विचार का प्रयोग किया है। रॉय के अनुसार नागरिकता ख़ुद को सार्वभौम समानता के विचार की तरह पेश करती है। इस अमूर्त सार्वभौमवाद में एक 'आवेष्टी' मूल्य होता है।

अनुपमा रॉय ने लोकतांत्रिक नागरिकता के संदर्भ में क़ानूनी स्तर पर होने वाले बदलावों की व्याख्या के संदर्भ में वर्बनर और युवल डेविस के 'इनकम्पासमेंट' (आवेष्टन) और 'क्लोज़र' (या समापन) के विचार का प्रयोग किया है।[1] रॉय के अनुसार नागरिकता ख़ुद को सार्वभौम समानता के विचार की तरह पेश करती है। इस अमूर्त सार्वभौमवाद में एक 'आवेष्टी' मूल्य होता है। लोकतांत्रिक होने के लिए सार्वभौमिक को अलग-अलग स्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के बीच अपना विस्तार करना होता है। इसे ख़ुद को द्वंद्वात्मक संबंधों और प्रक्रियाओं के ऐसे समूह के भीतर ले जाना होता है जो विभेदों को मिटाने के बजाय उन्हीं को मान्यता देते हों। आवेष्टन अमूर्त सार्वभौमवाद और विभेद के बीच मौजूद विरोधाभास सुलझाता है। रॉय के अनुसार आवेष्टन का तर्क दो मान्यताओं पर आधारित है : पहला, ऐसा समय मुक्तिदायी परिवर्तन का क्षण होता है जब द्वंद्वात्मक संबंध ख़ुद को अभिव्यक्त करता है; दूसरा, सार्वभौमिक की रूपरेखा के भीतर ही विभेद सामने आता है। विभेद सार्वभौमिक की रूपरेखा में द्वंद्वात्मकता पैदा करते हैं और आवेष्टन की तार्किकता द्वारा ज़्यादा व्यापक सार्वभौमीकरण को बढ़ावा देते हैं। इससे सार्वभौमिक रूपरेखा के भीतर विभेद को मान्यता मिल जाती है। इसलिए आवेष्टन की तार्किकता द्वारा लोकतांत्रिक दायरे का प्रगतिशील रूप सामने आता है। लेकिन जैसे ही

---

[1] प्नीना वर्बनर और नीरा युवल डेविस (2005), 'वुमॅन ऐंड द न्यू डिस्कोर्स ऑन सिटीज़नशिप', नीरा युवल डेविस (सम्पा.), *वुमॅन सिटीज़नशिप ऐंड डिफ़रेंस,* जुबान, नयी दिल्ली.

नागरिकता व्यवहार में सामने आती है उसे समापन (क्लोज़र) का सामना करना पड़ता है। यह आवेष्टन के हर मुक्तिदायी क्षण के साथ जुड़ा होता है। रॉय का यह मानना है कि समापन की प्रक्रियाएँ (आवेष्टन) की तार्किकता द्वारा रचे गये विभेदीकृत-सार्वभौमवाद को तोड़ने का काम करती हैं। इसमें एक तरह का नकार शामिल होता है।[2] लगता है रॉय इस बात पर बल देना चाहती हैं कि भारत में नागरिकता की क़ानूनी-संवैधानिक भाषा आवेष्टन और समापन के द्वैध के बीच में दोलन करती रही है। वे कहना चाहती हैं कि इसने 'नागरिकता के भीतर अशांत क्षेत्र' पैदा किया है जिसमें नागरिकता को धीरे-धीरे सार्वभौम और समतावादी बनाने की सम्भावना है। लेकिन यह भी सच है कि इस किताब में जिन मामलों पर विचार किया गया है कि उसमें काफ़ी हद तक राज्य द्वारा इस सम्भावना का नकार ही सामने आता है।

आज़ादी और नागरिकता का द्वंद्व

पहले अध्याय में रॉय देश के विभाजन और राज्य की रचना के समय नागरिकता की विधिक अभिव्यक्ति का परीक्षण करती हैं। वे बताने का प्रयास करती हैं कि किस तरह इन स्थितियों ने क़ानूनी सदस्यता और जुड़ाव के मुद्दों को स्पष्ट किया। उनके अनुसार 'रजिस्टर्ड पत्नी', 'बाहरी औरत', 'बच्चे', 'विस्थापित व्यक्ति' जैसी कई श्रेणियों के कारण गणतंत्र के निर्माण के समय नागरिकता कई तरह के विरोधों से घिरी हुई थी।

आज़ादी के साथ हुए विभाजन ने नागरिकता की अवधारणा तैयार करने के कार्य-भार को पहली चुनौती दी। एक अनुमान के मुताबिक़ इस दौर में तक़रीबन डेढ़ करोड़ लोगों ने इधर से उधर भारत और पाकिस्तान की सीमाएँ पार कीं। भारत आने वाले लोग आज़ादी के पहले उसी तरह से ब्रिटिश भारत के नागरिक थे जैसे यहाँ से पाकिस्तान जाने वाले लोग। लेकिन इसके बावजूद अपहृत महिलाओं के बारे में समस्या पैदा हुई जिन्हें बाद में उनके परिवारों को लौटाया गया। उन मुसलमान परिवारों के बारे में भी कुछ समस्याएँ आयीं जो पाकिस्तान जाने के बाद फिर से वापस आये थे। इसलिए भारतीय राज्य के सामने मानवीय और क़ानूनी, दोनों ही रूपों में काफ़ी गम्भीर समस्या थी। यह वह समय था जब संविधान सभा संविधान की रचना करने में लगी हुई थी। उसने इस समस्या और इसके विविध पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया। इसी कारण जब 26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू हुआ तो उसने इस सवाल का स्पष्ट जवाब दिया कि भारत का नागरिक कौन है। भारतीय संविधान के भाग-2 (अनुच्छेद 5-11) का शीर्षक है 'नागरिकता'। चूँकि संविधान दो महीने पहले 26 जनवरी को लागू हो चुका था, इसलिए यही दिन नागरिकों और बाहरी लोगों के बीच अंतर करने की तारीख़ बन गया।

बाद में, 1955 में संविधान के अनुच्छेद 11 के अनुसार संसद द्वारा नागरिकता अधिनियम पारित किया गया। इसमें भारत की नागरिकता हासिल करने की पाँच सम्भव शर्तें रेखांकित की गयी थीं : जन्म, वंश, रजिस्ट्रेशन, देशीकरण (नेचुरलाइज़ेशन) और भू-क्षेत्र में आवेष्टन।[3] इन शर्तों के बारे में संवैधानिक प्रावधान स्पष्ट थे, लेकिन विभाजन की त्रासदी इतनी भयानक थी कि राज्य को इस बारे में विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक समस्या अपहृत महिलाओं और उन्हें उनके परिवार को सौंपने से संबंधित थी। रॉय मानती हैं कि इस पूरी प्रक्रिया को जेंडर की रोशनी में देखना होगा। संविधान सभा ने 15 दिसम्बर, 1949 को *एबडक्टेड पर्संस (रिकवरी ऐंड रेस्टोरेशन) ऐक्ट* पारित किया जो नागरिकता अधिनियम पारित होने के दो वर्ष बाद तक यानी 1957 तक लागू रहा। इसे लागू करने

---

[2] अनुपमा रॉय (2010), *मैपिंग सिटीज़नशिप इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 6-7.
[3] वही : 37-39.

के दौरान समाज का जेंडर पूर्वग्रह स्पष्ट रूप से सामने आ गया। राज्य की रचना और सम्प्रभुता से संबंधित नारीवादी लेखन में 'ज़बरदस्ती की गयी शादियों' के बारे में राज्य के पैतृकी नज़रिये की आलोचना की गयी है।

राज्य इस बात को मान्यता देने में नाक़ाम रहा कि अपहृत होने और बरामद होने के बीच एक लम्बा समय गुज़र चुका है। भारतीय राज्य द्वारा अपहृत महिलाओं की बरामदगी में इस बात पर ध्यान दिया गया कि राष्ट्र-राज्य का सम्मान क़ायम रहे, जिसके कारण यहाँ 'परिवार की व्यवस्था' राज्य के अधिकार-क्षेत्र का विषय बन गयी। रॉय कई क़ानूनी केसों के माध्यम से यह स्पष्ट करती हैं कि आज़ादी के बाद के दौर में नागरिकता को व्यावहारिक रूप से लागू करने में 'पूर्वग्रहपूर्ण' रवैया अपनाया गया। इस तरह राज्य की रचना 'प्रवासी' के संदर्भ में नागरिकों को परिभाषित करने से प्रारम्भ हुई। 1986 में नागरिकता अधिनियम में हुए संशोधन में भी यह प्रवृत्ति जारी रही।

रॉय ने जिस सैद्धांतिक रूपरेखा में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उसके माध्यम से देश के भीतर दूसरे अधिकारहीन नागरिक समूहों के संघर्ष की व्याख्या भी की जा सकती है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि इस सैद्धांतिक रूपरेखा का विस्तार किया जाए। इस संदर्भ में भारत के जंगल में या उसके क़रीब बसे वन निवासियों के उदाहरण मददगार हो सकते हैं।

असम और बांग्लादेशी घुसपैठिये

रॉय ने दूसरे अध्याय में 1955 के अधिनियम के नागरिकता अधिनियम में 1986 में हुए संशोधन का विश्लेषण किया है। सत्तर के दशक के आख़िरी वर्षों में और अस्सी के दशक के आरम्भ में असम में बांग्लादेशियों की तथाकथित घुसपैठ के ख़िलाफ़ काफ़ी ज़ोरदार आंदोलन चला। इससे नागरिकता का मसला और ज़्यादा पेचीदा हो गया। इस स्थिति से निपटने के लिए 1986 में *नागरिकता अधिनियम,* 1955 संशोधित हुआ और इसमें अनुच्छेद 6ए जोड़ा गया जो कि विशेष रूप से असम राज्य से संबंधित था। इस संशोधन द्वारा *स्थगित नागरिक* (डेफ़र्ड सिटीज़नशिप) अवधारणा जोड़ी गयी। ऐसा उन प्रवासियों के लिए किया गया जो 1966 से 25 मार्च, 1971 के बीच असम में आये थे। यह प्रावधान किया गया कि इनकी क़ानूनी हैसियत विदेशी अधिनियम (फॉरनर्स ऐक्ट) द्वारा तय की जाएगी।

इस तारीख़ के बाद भारत में आये शेष लोग बाहरी माने गये जिनकी ग़ैर-कानूनी स्थिति के बारे में *इल्लीगल माइग्रेंट्स डिटरमिनेशन बाइ ट्रिब्यूनल* (आईएमडीटी) ऐक्ट द्वारा फैसला किया जाना था। संसद ने 1983 में असम आंदोलन की पृष्ठभूमि में यह क़ानून पारित तो किया, लेकिन असम के सारे सांसदों ने संसद का बहिष्कार किया। इससे ज़ाहिर है कि बांग्लादेशी आप्रवासियों का मुद्दा भारत बनाम विदेशी के सरल तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। आईएमडीटी ऐक्ट, फारनर्स ऐक्ट से इस मामले में अलग था कि यहाँ जिस व्यक्ति पर विदेशी होने का शक़ था, उसे अपनी नागरिकता साबित नहीं करनी थी; बल्कि जो व्यक्ति उस पर विदेशी होने का शक़ कर रहा था, उसे यह बात प्रमाणित करनी थी। रॉय इस संदर्भ में असम में चलने वाले आंदोलनों पर विचार करती हैं और यह भी बताती हैं कि विभिन्न शासनों ने इस पर किस तरह अपनी प्रतिक्रिया दी। बाद में, 2005 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रावधान को ख़त्म कर दिया और ग़ैर-क़ानूनी आप्रवासन को 'भारत के ख़िलाफ़ हमले' की संज्ञा दी।[4]

---

[4] वही : 97.

इस अध्याय की ख़ास बात यह है कि उन्होंने यहाँ पूर्वी पाकिस्तान / बांग्लादेश से आये चकमा शरणार्थियों के मुद्दे पर भी गहराई से विचार किया है। चटगाँव पहाड़ी क्षेत्रों से चकमा और कुछ अन्य जनजातियों के लोग विभाजन के बाद से ही भारत की ओर आने लगे थे। लेकिन बड़े पैमाने पर शरणार्थी बाद में आये। साठ के दशक में करना फुली बाँध से विस्थापित होने के बाद बहुत से लोग शरणार्थी के रूप में आये और असम, मेघालय, मिजोरम, त्रिपुरा और पश्चिम बंगाल के बहुत से भागों में बस गये। भारत सरकार ने 1966 में इनमें से कुछ लोगों को अरुणाचल प्रदेश (जिसे उस समय नॉर्थ ईस्टर्न फ्रंटियर एजेंसी या नेफ़ा के रूप में जाना जाता था) में बसाने का फ़ैसला किया। हालाँकि उस समय नेफ़ा केंद्र शासित क्षेत्र था लेकिन इसके बावजूद केंद्र सरकार ने अपने इस फ़ैसले को सख़्ती से लागू करने का प्रयास नहीं किया। 1987 में अरुणाचल प्रदेश एक पूर्ण राज्य बन गया। इस क्षेत्र के लोगों ने चकमा शरणार्थियों को अपने यहाँ स्थायी रूप से बसने के विचार को कभी स्वीकार नहीं किया था और पूर्ण राज्य बन जाने के बाद तो इसका खुल कर विरोध करना शुरू कर दिया। विशेष रूप से छात्र संगठनों ने चकमा लोगों के नाम को मतदाता सूची में शामिल करने का डट कर विरोध किया। इसी कारण भारत सरकार और चुनाव आयोग चकमा शरणार्थियों वाले क्षेत्र में चुनाव नहीं करा पाये। इस मामले में 1986 में *नागरिकता अधिनियम* में संशोधन के बाद में जोड़ा गया अनुच्छेद 6ए भी उपयोगी साबित नहीं हुआ क्योंकि वह विशिष्ट रूप से असम से संबंधित था। इस धारा का उपयोग करने में नाक़ाम रहने के बाद चकमा शरणार्थियों ने 1955 के *नागरिकता अधिनियम* की धारा 5(1)(ए) अर्थात् रजिस्ट्रेशन द्वारा नागरिकता लेने का फ़ैसला किया।

इस अध्ययन में नागरिकता के क़ानून को चुनौती देने वाले क़ानूनी केसों का बेहतरीन विश्लेषण है। इसमें 'प्रवासी' गतिशीलता को आधार बनाकर भारतीय संदर्भ में नागरिकता से संबंधित विविध विवादों और इस संदर्भ के नागरिकता के विस्तार का एक गहन अध्ययन किया गया है। दरअसल, इस तरह का शोध 'सार्वभौम' होने का दावा करने वाले 'पश्चिमी' सिद्धांतीकरण के वर्चस्व को तोड़ने का काम करता है। यह पुस्तक भारतीय राजनीतिक सिद्धांत के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभा सकती है।

रॉय के अनुसार, चकमा लोगों के लिए 'अ-विभेदीकृत नागरिकता' ही वह माध्यम हो सकती थी, जिसके द्वारा वे 'आप्रवासी/शरणार्थी' की हैसियत से निकल सकते थे। स्पष्टत: इस पूरे मामले में जहाँ अरुणाचली विभेदीकृत नागरिकता के आधार पर अपने विशिष्ट अधिकारों की माँग कर रहे थे, वहीं चकमा शरणार्थियों ने अ-विभेदीकृत नागरिकता पर बल दिया। बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने रजिस्ट्रेशन द्वारा नागरिकता हासिल करने के चकमा शरणार्थियों का दावा स्वीकार कर लिया और केंद्र सरकार को इस संबंध में आवश्यक क़दम उठाने के आदेश दिये।

वैश्वीकृत भारत और विदेशी नागरिकता

नागरिकता विमर्श में तीसरा मील का पत्थर उस समय सामने आया जब भारतीय संसद ने *नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2003* पारित किया। इसमें फिर से 2005 में संशोधन किया गया जो कई तरह की द्वैध नागरिकता देता है। इसने नागरिकता के दायरे में विदेशी नागरिकता को शामिल किया। इस तरह इसके माध्यम से एक द्वैध / परा-राष्ट्रीय नागरिकता की स्थापना हुई। इस संदर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं : पहला, इसमें सांस्कृतिक सेतुबंधन के साथ ही भारतीय मूल के विदेशी नागरिकों के 'ज्ञान, सम्पत्ति, अनुभव और विशेषज्ञता' की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी गयी। दूसरा, इस

तरह के नागरिकों का चुनाव करने में मुख्य रूप से उत्तरी अमेरिका, युरोप और ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों पर ही ध्यान केंद्रित किया गया। इसका अर्थ यह है कि तुलनात्मक रूप से ग़रीब देशों के भारतीय मूल के लोगों को इसके दायरे से बाहर रखा गया। इसी कारण, अफ्रीकी नैशनल कांग्रेस की एक सदस्य फ़ातिमा मीर ने इसे 'डॉलर और पौण्ड नागरिकता' की संज्ञा दी है।[5] दूसरे शब्दों में आवेष्टी और सीमाविहीन नागरिकता की वैश्विक प्रवृति के आवेष्टन के साथ-साथ एक समापन की प्रक्रिया भी चलती रहती है।

रॉय का सैद्धांतिक सूत्रीकरण भी इस अमूर्त नागरिकता में विभेदों की मान्यता से पैदा होने वाली द्वंद्वात्मकता के महत्त्व पर बल देता है और क़ानून में बदलाव और इसे बेहतर बनाने की सम्भावना रेखांकित करता है। इसमें नागरिकता इस द्वंद्वात्मकता के साथ लगातार आवेष्टन की प्रक्रिया की ओर आगे बढ़ सकती है।

इस किताब में सोनिया गाँधी के विदेशी नागरिकता संबंधी विवाद का भी विश्लेषण किया गया है।[6] किताब के आख़िरी अध्याय में भारत के तेज़ी से होते शहरीकरण और लोगों के देश के किसी भी भाग में बसने के अधिकार जैसे बुनियादी नागरिकता अधिकारों के संदर्भ में भी विचार किया गया है। रॉय *नागरिकता अधिनियम* में होने वाले तीनों ही बदलावों के संदर्भ में सार्वभौमिक नागरिकता में आवेष्टन और समापन की प्रक्रिया को रेखांकित करती हैं। इनकी गतिशीलता से यह भी स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया किसी भी एक स्थान पर पूरी तरह ख़त्म नहीं होती है।

रॉय ने जिस सैद्धांतिक रूपरेखा में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उसके माध्यम से देश के भीतर दूसरे अधिकारहीन नागरिक समूहों के संघर्ष की व्याख्या भी की जा सकती है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि इस सैद्धांतिक रूपरेखा का विस्तार किया जाए। इस संदर्भ में भारत में जंगल में या उसके क़रीब बसे वन निवासियों के उदाहरण मददगार हो सकते हैं। इन समुदायों में कई को संविधान की अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में डाला गया है और बहुत से समुदाय इससे बाहर भी हैं। स्वतंत्रता के बाद इन सभी समुदायों को औपचारिक नागरिकता दी गयी और अनुसूचित जनजातियों के अंतर्गत आने वाले समुदायों के लिए कुछ विशेष प्रावधान भी किये गये। लेकिन जंगल और अपने आस-पास के संसाधनों पर इनके अधिकारों को नकार दिया गया। जंगल में इनकी हर तरह की गतिविधि पर वन विभाग द्वारा पाबंदियाँ लगाई गयीं। जंगल में या इसके क़रीब रहने वाले लोगों की स्थिति दोयम दर्जे के नागरिक की बनी रही। ये अपने ही ज़मीन पर 'अतिक्रमक' और जंगलों में 'घुसपैठिया' बन गये। लोकतांत्रिक चेतना बढ़ने के साथ ही इन समूहों का असंतोष भी बढ़ता गया। *अनुसूचित जनजाति और अन्य पारम्परिक वन निवास (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम, 2006* (जिसे आमतौर पर वन अधिकार क़ानून के रूप में जाना जाता है) को सार्वभौम नागरिकता में मौजूद द्वंद्वात्मकता के नतीजे के रूप में देखा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि यह क़ानून सार्वभौम रूपरेखा के भीतर आवेष्टन का प्रतिनिधित्व करता है। इसके द्वारा वन-निवासी समूहों को मिली दोयम दर्जे की नागरिकता ख़त्म करने की कोशिश की गयी लेकिन इसमें एक समापन (क्लोज़र) की स्थिति भी मौजूद है। मसलन, क़ानून के भीतर 'अन्य पारम्परिक वन-निवासियों' के लिए यह शर्त रखी गयी है कि उन्हें

---

[5] वही : 141.

[6] वही : 154-60.

क़ानून का फ़ायदा तभी मिलेगा जब वे एक स्थान पर तीन पीढ़ियों अर्थात् 75 सालों से रह रहे हों।[7] यह एक समापन (क्लोज़र) होने के साथ नयी द्वंद्वात्मकता का स्रोत भी हो सकता है। रॉय का सैद्धांतिक सूत्रीकरण भी अमूर्त नागरिकता में विभेदों की मान्यता से पैदा होने वाली द्वंद्वात्मकता के महत्त्व पर बल देता है और क़ानून में बदलाव और इसे बेहतर बनाने की सम्भावना रेखांकित करता है। इसमें नागरिकता इस द्वंद्वात्मकता के साथ लगातार आवेष्टन की प्रक्रिया की ओर आगे बढ़ सकती है। लेकिन इस सैद्धांतिक सूत्रीकरण में द्वंद्वात्मकता बढ़ाने और इसे आवेष्टन की ओर ले जाने में हाशिये के समूहों की राजनीति, उनके द्वारा विविध स्तरों पर चलाए जाने वाले आंदोलनों और उनकी गोलबंदी की व्याख्या का पर्याप्त आधार नहीं मिलता है। इसके अलावा, इस रूपरेखा में बदलाव की हर माँग की यांत्रिक व्याख्या करने का ख़तरा भी मौजूद है।

लेकिन इस बात में संदेह नहीं है कि अनुपमा रॉय के इस अध्ययन में नागरिकता के क़ानून को चुनौती देने वाले क़ानूनी केसों का बेहतरीन विश्लेषण है। इसमें 'प्रवासी' गतिशीलता को आधार बनाकर भारतीय संदर्भ में नागरिकता से संबंधित विविध विवादों और इस संदर्भ में नागरिकता के विस्तार का एक गहन अध्ययन किया गया है। दरअसल, इस तरह का शोध 'सार्वभौम' होने का दावा करने वाले 'पश्चिमी' सिद्धांतीकरण के वर्चस्व को तोड़ने का काम करता है। यह पुस्तक भारतीय राजनीतिक सिद्धांत के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभा सकती है।

संदर्भ

गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया (2007), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रेकॅग्शिन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) ऐक्ट 2006,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस.

प्नीना वर्बनर और नीरा युवल डेविस (2005), 'वुमॅन ऐंड द न्यू डिस्कोर्स ऑन सिटीज़नशिप', नीरा युवल डेविस (सम्पा.), *वुमॅन सिटीज़नशिप ऐंड डिफ़रेंस,* जुबान, नयी दिल्ली.

[7] देखें, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया (2007), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रेकॅगिनशन ऑफ फॉरेस्ट राइट्स) ऐक्ट 2006,* मिनिस्ट्री ऑफ लॉ ऐंड जस्टिस, भारत सरकार.